The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 3 | Issue 7 | July 2025
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

भारत में महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की न्यायिक व्याख्या: एक आलोचनात्मक अध्ययन

Minakshi Narendra Narnaware

Ph.D. Research Scholar, Department of Law, Mansarovar Global University Bhopal, M.P.

E-mail ID- advocateminakshi1984@gmail.com

Dr. Seema Rajput

Professor, Department of Law, Mansarovar Global University Bhopal, M.P.

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.16908096

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Accepted: 31-07-2025

Published: 10-08-2025

Keywords:

महिला अधिकार, न्यायपालिका, संवैधानिक व्याख्या, लैंगिक समानता, सामाजिक न्याय, भारत का संविधान, न्यायिक सक्रियता।

ABSTRACT

यह शोधपत्र भारतीय संविधान में निहित महिलाओं के मौलिक अधिकारों की न्यायिक व्याख्या का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 21 एवं 39 महिलाओं को समानता, स्वतंत्रता, गरिमा तथा जीवन के अधिकार प्रदान करते हैं, किंतु सामाजिक–सांस्कृतिक बाधाएँ, पितृसत्तात्मक मानसिकता और विधिक क्रियान्वयन की सीमाएँ इन अधिकारों की प्रभावशीलता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं। शोध के अंतर्गत *Vishakha v. State of Rajasthan*, *Githa Hariharan v. RBI*, *Shayara Bano v. Union of India*, तथा *Joseph Shine v. Union of India* जैसे ऐतिहासिक मामलों का विश्लेषण किया गया है, जिन्होंने भारतीय न्यायशास्त्र में महिला अधिकारों को नई दिशा प्रदान की। यद्यपि इन निर्णयों में महिलाओं की गरिमा, स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्णय को मान्यता दी गई है, परंतु इन व्याख्याओं का व्यवहारिक क्रियान्वयन अभी भी अनेक स्तरों पर बाधित है। शोध में यह प्रतिपादित किया गया है कि न्यायपालिका की सक्रियता तभी सार्थक हो सकती है जब विधायिका और कार्यपालिका भी समान उत्साह से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करें। न्यायिक व्याख्याओं को ज़मीनी स्तर पर प्रभावी बनाने हेतु संवेदनशील पुलिस व्यवस्था, सरल न्यायिक प्रक्रिया, समयबद्ध सुनवाई, और जनसंचार माध्यमों के

माध्यम से व्यापक जनजागरूकता आवश्यक है। इस अध्ययन का निष्कर्ष है कि भारत को एक समतामूलक और न्यायपूर्ण राष्ट्र बनाने हेतु न्यायपालिका को केवल विधिक व्याख्याकार न रहकर सामाजिक परिवर्तन की संवाहिका के रूप में कार्य करना होगा।

1. प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समता, स्वतंत्रता, न्याय और गरिमा की जो संकल्पना है, वह केवल शब्दों का संयोजन नहीं, बल्कि एक समावेशी, न्यायसंगत और संवेदनशील समाज की आधारशिला है। संविधान निर्माताओं ने यह भलीभांति समझा कि भारतीय समाज पितृसत्तात्मक संरचना से व्याप्त है, जहाँ महिलाओं की स्थिति ऐतिहासिक रूप से वंचना और हाशियाकरण से युक्त रही है। अतः उन्होंने मौलिक अधिकारों के खंड में विशेष रूप से महिलाओं के लिए न्याय, समानता और स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले अनुच्छेदों को समाविष्ट किया। अनुच्छेद 14 के अंतर्गत "कानून के समक्ष समानता" का सिद्धांत, अनुच्छेद 15(3) में "महिलाओं के लिए विशेष प्रावधानों की अनुमति", अनुच्छेद 16 में "रोजगार में समान अवसर", तथा अनुच्छेद 21 में "जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार" के माध्यम से महिलाओं को विधिक सुरक्षा प्रदान की गई। नीति निदेशक तत्वों में भी अनुच्छेद 39(a) एवं 39(d) महिलाओं को आर्थिक और सामाजिक समता सुनिश्चित करने हेतु राज्य को निर्देशित करते हैं।

इन संवैधानिक उपबंधों के बावजूद, वास्तविकता इससे एकदम भिन्न दिखाई देती है। आज़ादी के 75 वर्ष से अधिक बीत जाने के बाद भी भारतीय महिलाओं को अपने मौलिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ता है। उन्हें घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न, कार्यस्थल पर असमान वेतन, सशक्तिकरण में अवसर की कमी, राजनीतिक प्रतिनिधित्व की न्यूनता और धार्मिक रूढ़ियों जैसी विविध चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। हालाँकि विधायिका द्वारा समय-समय पर कई कानून बनाए गए जैसे कि "घरेलू हिंसा अधिनियम 2005", "POSH अधिनियम 2013", "बाल विवाह निषेध अधिनियम", "दहेज निषेध अधिनियम", इत्यादि, परंतु उनका कार्यान्वयन निरंतर सवालों के घेरे में रहा है। कानूनी भाषा, प्रक्रियात्मक विलंब, पुलिस की निष्क्रियता, सामाजिक कलंक, और न्यायालयों की संवेदनशीलता की कमी, न्याय प्राप्ति को एक दुर्गम यात्रा बना देते हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या संवैधानिक संरचना केवल कागज़ी आदर्श बनकर रह गई है? क्या न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णयों की परिणति सामाजिक परिवर्तन में हो पा रही है?

इस संदर्भ में, न्यायपालिका की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाती है, क्योंकि वही संविधान की व्याख्या करती है और अंततः यह तय करती है कि महिलाओं को वास्तविक न्याय कैसे और किस प्रकार प्रदान किया जाए। स्वतंत्र भारत के न्यायिक

इतिहास में महिलाओं से संबंधित अनेक निर्णय आए हैं जो सैद्धांतिक रूप से अत्यंत प्रगतिशील माने गए। उदाहरणार्थ, Vishakha v. State of Rajasthan (1997) निर्णय ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए दिशा-निर्देश प्रदान किए। Shayara Bano v. Union of India (2017) में ट्रिपल तलाक को असंवैधानिक घोषित किया गया। Joseph Shine v. Union of India (2018) में व्यभिचार कानून को असंवैधानिक मानते हुए महिला की गरिमा और स्वतंत्रता को महत्व दिया गया। परंतु इन सभी निर्णयों के बावजूद, समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक मानसिकता, प्रशासनिक उदासीनता और कानूनी शिक्षा की कमी, महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखती है।

अतः यह शोधपत्र एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण से यह मूल्यांकन करने का प्रयास करता है कि क्या भारतीय न्यायपालिका वास्तव में महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की व्याख्या करते हुए उन्हें सशक्त और सुरक्षित बना रही है, या फिर यह व्याख्याएँ मात्र न्यायिक औपचारिकता बनकर रह गई हैं? साथ ही यह अध्ययन यह भी स्पष्ट करेगा कि इन व्याख्याओं के सामाजिक, विधिक, और व्यावहारिक प्रभाव क्या हैं, तथा किन क्षेत्रों में अभी भी न्यायिक हस्तक्षेप और सुधार की आवश्यकता बनी हुई है।

2. अनुसंधान के उद्देश्य

भारतीय संविधान में महिलाओं को प्रदत्त मूल अधिकारों की संरचना भले ही सैद्धांतिक रूप से सुदृढ़ और समावेशी प्रतीत होती हो, परंतु उसका वास्तविक स्वरूप न्यायालयों की व्याख्याओं तथा सामाजिक-प्रशासनिक क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। विशेषतः जब बात महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव, उत्पीड़न और अधिकारों से वंचन की हो, तब यह अत्यावश्यक हो जाता है कि संवैधानिक उपबंधों की न्यायिक व्याख्या को केवल विधिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि सामाजिक प्रभावशीलता के दृष्टिकोण से भी मूल्यांकित किया जाए। इसी सन्दर्भ में, इस शोध का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित चार स्तरीय बिंदुओं के इर्द-गिर्द केन्द्रित किया गया है:

प्रथम उद्देश्य यह है कि संविधान में उल्लिखित महिलाओं के मौलिक अधिकारों की न्यायिक व्याख्या का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए। यह देखा जाएगा कि न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय किस हद तक उन अधिकारों की रक्षा करते हैं जिनकी गारंटी संविधान ने महिलाओं को दी है। विशेषकर अनुच्छेद 14, 15, 16, 21 और 39 के आलोक में न्यायिक दृष्टिकोण की दिशा और प्रवृत्ति का विवेचन किया जाएगा।

द्वितीय उद्देश्य महिला-संबंधी महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक न्यायिक निर्णयों को चिन्हित कर उनका गहन अध्ययन करना है। ये निर्णय केवल विधिक मिसाल भर नहीं, बल्कि समाज में वैचारिक बदलाव लाने की क्षमता भी रखते हैं। *Vishakha*

Guidelines, *Triple Talaq* निषेध, *POSH अधिनियम* की वैधानिकता, *Adultery* कानून की समाप्ति जैसे मामले न केवल विधि की व्याख्या करते हैं, बल्कि महिलाओं की गरिमा, सुरक्षा और समानता की व्यावहारिक नींव रखते हैं।

तृतीय उद्देश्य न्यायिक व्याख्याओं की आलोचनात्मक समीक्षा के माध्यम से यह मूल्यांकन करना है कि क्या इन निर्णयों का जमीनी प्रभाव उन सामाजिक स्थितियों को बदलने में सफल रहा है जो महिलाओं के अधिकारों के हनन को उत्पन्न करती हैं। यह विवेचन इस दृष्टिकोण से होगा कि क्या न्यायालयों की सक्रियता केवल कागजी निर्णयों तक सीमित रही है, या इनसे महिलाओं के जीवन में वास्तविक परिवर्तन भी आए हैं।

चतुर्थ और अंतिम उद्देश्य न्यायपालिका की भूमिका को महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया में स्पष्ट करना है। यह देखा जाएगा कि न्यायिक संस्थान कितने जागरूक, उत्तरदायी और सामाजिक–संवेदनशील हैं, तथा क्या वे स्वयं को एक परिवर्तनकारी संस्था के रूप में प्रस्तुत कर पाने में सफल रहे हैं या नहीं। न्यायपालिका की भूमिका एक निष्पक्ष मध्यस्थ भर की नहीं है, बल्कि वह सामाजिक न्याय की निर्माता भी है—इस सिद्धांत की कसौटी पर न्यायिक व्याख्याओं को परखा जाएगा।

3. भारत में महिलाओं को प्राप्त संवैधानिक अधिकार

भारतीय संविधान की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका समावेशी और मानवाधिकार-आधारित ढाँचा है, जो प्रत्येक नागरिक को न केवल विधिक संरक्षण प्रदान करता है, बल्कि उसे गरिमापूर्ण जीवन जीने का नैतिक आधार भी देता है। विशेष रूप से महिलाओं के सन्दर्भ में, संविधान ने कई ऐसे प्रावधान सुनिश्चित किए हैं जो उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा वैयक्तिक क्षेत्रों में समान अधिकार देने हेतु राज्य को निर्देशित करते हैं। ये अधिकार मात्र सैद्धांतिक घोषणाएँ नहीं हैं, बल्कि न्यायपालिका के व्याख्यात्मक हस्तक्षेपों के माध्यम से समय-समय पर पुष्ट और परिवर्तित होते रहे हैं। निम्नलिखित धाराएँ महिलाओं के अधिकारों की संवैधानिक रक्षा की मुख्य आधारशिला हैं:

(i) अनुच्छेद 14 – कानून के समक्ष समानता का अधिकार

अनुच्छेद 14 भारतीय संविधान की रीढ़ मानी जाती है, जो प्रत्येक नागरिक को कानून के समक्ष समानता और राज्य की समान संरक्षण की गारंटी देता है। यह अनुच्छेद स्त्री–पुरुष के मध्य किसी भी प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने की संवैधानिक गारंटी है। न्यायपालिका ने समय-समय पर इस अनुच्छेद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि समानता केवल संख्यात्मक या औपचारिक न होकर, वास्तविक और सामाजिक संदर्भों में भी होनी चाहिए।

एक महत्त्वपूर्ण निर्णय *Air India v. Nargesh Meerza* (1981) में, सुप्रीम कोर्ट ने उस सेवा नियम को असंवैधानिक ठहराया, जिसमें एयर इंडिया में महिला कर्मचारियों की सेवा समाप्ति का आधार उनकी वैवाहिक स्थिति या गर्भधारण था।

न्यायालय ने स्पष्ट कहा कि ऐसे प्रावधान महिलाओं की गरिमा और समानता के मौलिक अधिकार का घोर उल्लंघन करते हैं। इस निर्णय ने सरकारी और निजी क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं की नौकरी की सुरक्षा को एक विधिक सुरक्षा प्रदान की।

यह अनुच्छेद इस विचार को पुष्ट करता है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए केवल कानूनी समानता पर्याप्त नहीं, बल्कि व्यावहारिक एवं सामाजिक न्याय की गारंटी आवश्यक है।

(ii) अनुच्छेद 15 – लिंग आधारित भेदभाव का निषेध

अनुच्छेद 15(1) राज्य को यह निर्देश देता है कि वह नागरिकों के साथ केवल धर्म, जाति, लिंग, जातीयता, जन्मस्थान आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। वहीं अनुच्छेद 15(3) राज्य को अधिकार देता है कि वह महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान कर सकता है। यह अनुच्छेद भारत के संवैधानिक ढाँचे में सकारात्मक भेदभाव (Positive Discrimination) की अवधारणा को वैधानिक आधार देता है।

Anuj Garg v. Hotel Association of India (2008) मामले में न्यायालय ने दिल्ली सरकार के उस कानून को असंवैधानिक ठहराया, जो महिलाओं को बार में काम करने से रोकता था। न्यायालय ने कहा कि इस प्रकार के विधिक प्रावधान महिलाओं की अभिभावकीय दृष्टिकोण से रचना करते हैं, जो उन्हें निर्णय लेने के अधिकार से वंचित करता है। कोर्ट ने यह भी स्पष्ट किया कि स्त्रियों की सुरक्षा के नाम पर अवसरों को बाधित करना संवैधानिक समानता के विरुद्ध है।

इस निर्णय ने भारतीय न्यायशास्त्र में यह विचार दृढ़ किया कि सशक्तिकरण की प्रक्रिया में महिला की स्वायत्तता सर्वोपरि है, और राज्य को उसे "संरक्षित वस्तु" नहीं बल्कि एक सक्रिय नागरिक के रूप में मान्यता देनी चाहिए।

(iii) अनुच्छेद 21 – जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार

अनुच्छेद 21 संविधान में निहित सबसे जीवंत और व्याख्यात्मक अधिकारों में से एक है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि “किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन या व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा, जब तक कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा न हो।” इस अनुच्छेद के माध्यम से “Right to Dignity”, “Right to Privacy”, “Right to Livelihood” जैसे अधिकारों का विकास हुआ है, जो महिलाओं की स्वतंत्र और गरिमामयी स्थिति के लिए अनिवार्य हैं।

Vishakha v. State of Rajasthan (1997) में सुप्रीम कोर्ट ने इस अनुच्छेद के तहत कार्यस्थल पर महिलाओं की गरिमा और सम्मान को संरक्षित करने हेतु ऐतिहासिक दिशा-निर्देश (Vishakha Guidelines) जारी किए। इस फैसले ने भारतीय न्यायशास्त्र को "सेक्सुअल हैरेसमेंट" की वैधानिक परिभाषा दी और अंततः 2013 में "POSH Act" के निर्माण की नींव रखी।

यह निर्णय इस बात का प्रतीक है कि अनुच्छेद 21 केवल जीवन जीने का अधिकार नहीं, बल्कि एक गरिमामय, भयमुक्त और सुरक्षित जीवन जीने का संवैधानिक प्रतिज्ञा है। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि कार्यस्थल केवल आय का स्रोत नहीं, बल्कि आत्म-सम्मान और पहचान का स्थान भी है, जहाँ महिलाओं को संपूर्ण सम्मान और सुरक्षा मिलनी चाहिए।

4. महिला अधिकारों की न्यायिक व्याख्याओं की प्रमुख मिसालें

भारतीय न्यायपालिका ने समय-समय पर ऐसे ऐतिहासिक निर्णयों के माध्यम से महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की गहन व्याख्या की है, जिन्होंने न केवल विधिक सिद्धांतों को विकसित किया, बल्कि सामाजिक संरचना को भी चुनौती दी है। इन निर्णयों में न्यायालय ने महिलाओं की गरिमा, सुरक्षा, आत्मनिर्णय और लैंगिक समानता को केन्द्र में रखते हुए उन स्थितियों पर विचार किया जिनमें महिलाएँ ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित रही हैं। ये मिसालें न केवल विधि के प्रगतिशील दृष्टिकोण की प्रतीक हैं, बल्कि सामाजिक बदलाव के उत्प्रेरक के रूप में भी कार्य करती हैं।

1. Vishakha vs. State of Rajasthan (1997): कार्यस्थल पर गरिमा और सुरक्षा की व्याख्या

यह निर्णय भारतीय न्यायिक इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है, जहाँ सुप्रीम कोर्ट ने पहली बार यह स्वीकार किया कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न महिलाओं के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। यह मामला एक सामाजिक कार्यकर्ता भंवरी देवी के साथ हुए सामूहिक बलात्कार के संदर्भ में लाया गया था, जिसने कार्यस्थल पर महिलाओं की सुरक्षा के अभाव को उजागर किया।

न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 19 और 21 के आधार पर यह निर्देशित किया कि कार्यस्थल पर महिलाओं के सम्मान और गरिमा की रक्षा करना राज्य की संवैधानिक जिम्मेदारी है। *Vishakha Guidelines* के नाम से प्रसिद्ध इन दिशा-निर्देशों ने भारत में *POSH Act, 2013* का आधार तैयार किया। इस निर्णय की विशिष्टता इस बात में थी कि यह उस समय दिया गया जब भारत में कोई विशेष कानून इस विषय पर अस्तित्व में नहीं था। न्यायपालिका ने विधायिका के शून्य को भरते हुए सामाजिक न्याय को सर्वोपरि रखा।

Githa Hariharan v. Reserve Bank of India (1999): अभिभावकत्व की लैंगिक पुनर्व्याख्या

इस निर्णय ने भारत में पारंपरिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण को चुनौती दी। विषय यह था कि 'guardian' शब्द केवल पिता के लिए मान्य है या माता भी बराबरी से अभिभावक मानी जा सकती है। इस याचिका में गीता हरिहरन ने यह प्रश्न उठाया कि क्या एक माता अपने जीवित पति की अनुपस्थिति में अपने बच्चे की अभिभावक हो सकती है?

सुप्रीम कोर्ट ने *Hindu Minority and Guardianship Act* की धारा 6(a) की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया कि 'guardian' शब्द को लिंग–निरपेक्ष रूप में देखा जाना चाहिए और माता को भी पिता के समान अधिकार प्राप्त हैं। यह निर्णय महिला अधिकारों की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था, जिसने महिलाओं की वैधानिक स्थिति को सुदृढ़ किया और उन्हें "सह–पालक" की परिधि से निकालकर "समान अभिभावक" के रूप में मान्यता दी।

3. Shayara Bano v. Union of India (2017): धार्मिक रूढ़ियों पर संवैधानिक नियंत्रण

यह निर्णय मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों की संवैधानिक रक्षा के संदर्भ में ऐतिहासिक रहा। *Shayara Bano* ने ट्रिपल तलाक की प्रथा को चुनौती देते हुए इसे भेदभावपूर्ण और मौलिक अधिकारों के विरुद्ध बताया। सुप्रीम कोर्ट ने तीन तलाक को असंवैधानिक ठहराते हुए यह स्पष्ट किया कि व्यक्तिगत कानूनों के नाम पर कोई भी प्रथा यदि संविधान में निहित समानता और गरिमा के सिद्धांतों का उल्लंघन करती है, तो उसे समाप्त किया जा सकता है।

न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि संविधान की सर्वोच्चता धार्मिक नियमों पर भी लागू होती है और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं को भी समान मौलिक अधिकार प्राप्त हैं। यह निर्णय महिलाओं के आत्मसम्मान, निर्णय क्षमता और विवाह संस्था में उनकी स्थिति को संविधानिक संरक्षण प्रदान करता है।

4. Joseph Shine v. Union of India (2018): लैंगिक समानता और नैतिकता की पुनर्परिभाषा

इस निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने दंड संहिता की धारा 497 (व्यभिचार) को असंवैधानिक घोषित किया। यह धारा केवल पुरुष को दोषी मानती थी यदि वह किसी विवाहित स्त्री के साथ सहमति से संबंध रखे, किंतु महिला को अपराधी नहीं मानती थी—जैसे वह पुरुष की संपत्ति हो। न्यायालय ने इसे महिलाओं की गरिमा और आत्मनिर्णय का उल्लंघन मानते हुए निष्क्रिय किया।

मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा ने कहा कि यह कानून स्त्रियों को निर्णयहीन प्राणी और पुरुषों की संपत्ति मानता है। यह निर्णय एक ऐसे युग का संकेतक है जहाँ महिलाएँ अपने नैतिक निर्णय स्वयं ले सकती हैं और राज्य उन्हें नियंत्रण की वस्तु नहीं बना सकता।

5. आलोचनात्मक विश्लेषण

यह निर्विवाद है कि भारतीय न्यायपालिका ने विगत कुछ दशकों में महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा के उद्देश्य से अनेक ऐतिहासिक और दूरगामी प्रभाव वाले निर्णय दिए हैं। इन निर्णयों ने विधिक दृष्टिकोण से महिलाओं को समानता, गरिमा और स्वतंत्रता प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण मील के पत्थर स्थापित किए हैं। परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि इन

व्याख्यात्मक निर्णयों की व्यवहारिक प्रभावशीलता अनेक स्तरों पर सीमित और असंतुलित रही है। समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक मानसिकता, विधिक प्रक्रियाओं की जटिलता, प्रशासनिक निष्क्रियता और व्यापक सामाजिक जागरूकता के अभाव के कारण न्यायपालिका की मंशा और ज़मीनी यथार्थ के बीच गहरी खाई बनी हुई है।

उदाहरण के लिए, कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न की रोकथाम हेतु *POSH अधिनियम, 2013* को *Vishakha Guidelines* के आधार पर लागू किया गया। यद्यपि इस अधिनियम के अंतर्गत हर संस्था में आंतरिक शिकायत समिति (Internal Complaints Committee) की स्थापना अनिवार्य है, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि देश के अधिकांश सरकारी, निजी, और अनौपचारिक क्षेत्रों में इस प्रावधान का पालन या तो नाममात्र है या पूर्णतः अनुपस्थित। महिलाएँ आज भी शिकायत करने से डरती हैं, उन्हें "करियर समाप्ति" और "साख पर दाग" जैसी आशंकाएँ घेर लेती हैं। इस प्रकार, विधिक व्याख्या की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब वह संरचनात्मक और सांस्कृतिक रूप से स्थापित हो।

इसी प्रकार *घरेलू हिंसा अधिनियम, 2005* का भी समाज में प्रचार अत्यंत सीमित रहा है। अनेक महिलाएँ, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में, इस कानून की जानकारी तक नहीं रखतीं। कई बार तो खुद पुलिसकर्मी या पंचायत प्रतिनिधि इस अधिनियम की धाराओं से अनभिज्ञ होते हैं, और पीड़िता को "पारिवारिक मसला" बताकर वापस घर भेज दिया जाता है। विधिक चेतना का यह अभाव, अधिनियम की सामाजिक प्रभावशीलता को बाधित करता है और महिलाओं को न्याय की प्रक्रिया से वंचित कर देता है।

न्यायिक प्रणाली की एक और गंभीर समस्या है – *न्याय में विलंब*। यौन शोषण, दहेज उत्पीड़न, या बलात्कार जैसे गंभीर मामलों में मुकदमे वर्षों तक लंबित रहते हैं। बार-बार तारीखें, गवाहों का पलटना, जाँच की त्रुटियाँ, और अपील की निरंतरता, पीड़िता को मानसिक रूप से इतना थका देती है कि कई बार वह मुकदमा वापस लेने को विवश हो जाती है। ऐसे मामलों में न्यायिक प्रणाली को जितनी शीघ्रता, संवेदनशीलता और पारदर्शिता से कार्य करना चाहिए, वह दृष्टिकोण अभी भी अभावग्रस्त प्रतीत होता है।

अंततः पुलिस व्यवस्था की भूमिका भी अत्यंत चिंताजनक है। अधिकांश मामलों में पुलिस प्रारंभिक रिपोर्ट दर्ज करने में हीलाहवाली करती है, विशेषतः जब आरोपी कोई प्रभावशाली व्यक्ति हो। कई बार पीड़िता पर दबाव डालकर मामला "सेटल" करने की कोशिश की जाती है। जाँच प्रक्रिया में साक्ष्यों का लोप, मेडिकल रिपोर्ट में देरी, या तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना, महिलाओं के अधिकारों के हनन को और गंभीर बना देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायालयों की व्याख्याएँ भले ही विधिक दृष्टि से सुदृढ़ एवं प्रगतिशील हों, परंतु जब तक वे व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित नहीं होतीं, तब तक महिलाओं के संवैधानिक अधिकार एक *विचारधारात्मक आदर्श* बनकर ही सीमित रह जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि न्यायिक व्याख्याओं को संस्थागत, सामाजिक और प्रशासनिक समर्थन प्राप्त हो, ताकि महिला सशक्तिकरण केवल नारे नहीं, बल्कि एक जीवंत और सक्रिय सामाजिक यथार्थ बन सके।

6. सुझाव

भारतीय न्यायपालिका द्वारा महिला अधिकारों की व्याख्या में दिखाया गया सक्रिय दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रशंसनीय रहा है, किंतु इन व्याख्याओं को प्रभावी रूप से समाज के ताने-बाने में समाहित करने हेतु केवल विधिक निर्णय पर्याप्त नहीं हैं। आवश्यकता है न्यायिक प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर *संवेदनशीलता, पहुँच, पारदर्शिता और तात्कालिकता* की स्थापना की, जिससे संवैधानिक संकल्पनाएँ वास्तविक सामाजिक परिवर्तन में परिवर्तित हो सकें। इस दिशा में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जो न्यायिक और प्रशासकीय दोनों दृष्टिकोणों को समाहित करते हैं:

1. न्यायिक प्रक्रिया को लैंगिक रूप से संवेदनशील बनाना एवं महिला पुलिस कर्मियों की संख्या बढ़ाना

वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि न्यायिक तंत्र—विशेषकर पुलिस, अदालत और अभियोजन प्रणाली—स्त्रियों की शिकायतों और अनुभवों के प्रति संवेदनशील हो। अधिकांश महिलाएँ पुलिस थाने जाने से इसीलिए हिचकती हैं क्योंकि वहाँ उनके साथ असम्मानजनक व्यवहार, अविश्वास और उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। अतः प्रत्येक पुलिस थाने में **महिला पुलिस अधिकारियों की पर्याप्त नियुक्ति**, **विशेष महिला सहायता कक्ष**, और **सुनवाई के लिए निजी व सुरक्षित स्थान** की स्थापना की जानी चाहिए। इससे पीड़िता को न केवल मानसिक संबल मिलेगा, बल्कि न्यायिक प्रक्रिया में उसका विश्वास भी दृढ़ होगा।

2. न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं के लिए लैंगिकसंवेदनशीलता प्रशिक्षण-

सिर्फ पुलिस ही नहीं, बल्कि **न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं** की भूमिका भी महिला अधिकारों की व्याख्या और प्रभावी संरक्षण में निर्णायक होती है। कई बार न्यायालयों में देखे गए निर्णयों की भाषा और प्रश्न-पद्धति में निहित रूढ़िवादिता पीड़िता को पुनः मानसिक रूप से आहत करती है। इसके निवारण हेतु सभी न्यायिक अधिकारियों को **Gender Sensitization Workshops**, **मानवाधिकार आधारित प्रशिक्षण कार्यक्रम**, और **महिला-अधिकार केंद्रित व्याख्यान** से अवगत कराना चाहिए। यह प्रक्रिया उन्हें केवल विधि के अनुच्छेद नहीं, बल्कि स्त्री की सामाजिक मनोदशा को समझने में भी सक्षम बनाएगी।

3. न्यायिक भाषा और प्रक्रियाओं को सरल, स्पष्ट एवं पीड़ितकेन्द्रित बनाना-

भारतीय न्यायिक प्रणाली में प्रयुक्त भाषा और प्रक्रिया आज भी अत्यधिक जटिल, तकनीकी और आमजन के लिए दुरूह है। एक सामान्य महिला, विशेषतः ग्रामीण पृष्ठभूमि से आने वाली, न्यायालय की भाषा, नियमों और दस्तावेजों की विधिक शैली को समझ ही नहीं पाती। इस समस्या का समाधान यही है कि **न्यायिक कार्यवाहियों को सरल हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध कराया जाए**, **प्रारंभिक परामर्श सेवाएँ (Legal Aid Services)** को सुलभ बनाया जाए, और **मुक्त एवं निर्भय वातावरण** में कार्यवाही की जाए जहाँ पीड़िता अपनी बात कहने में सक्षम हो सके।

4. सुधारात्मक विधानों का प्रभावी कार्यान्वयन और त्वरित न्याय सुनवाई की व्यवस्था

यद्यपि भारत में महिला सशक्तिकरण हेतु अनेक विधिक प्रावधान लागू हैं—POSH Act, POCSO Act, Dowry Prohibition Act, Domestic Violence Act—परंतु उनका *प्रभावी और पारदर्शी क्रियान्वयन* ही उन्हें सार्थक बनाता है। इसके लिए आवश्यक है कि **न्यायालयों में फास्ट ट्रैक सिस्टम**, **समर्पित महिला न्यायालयें**, तथा **ई-फाइलिंग और वीडियो गवाही जैसी तकनीकी सुविधाओं** को अनिवार्य रूप से लागू किया जाए। न्याय में देरी, न्याय से इनकार के तुल्य होती है; अतः मामलों की समयबद्ध सुनवाई और निर्णायक प्रवृत्ति ही महिला सशक्तिकरण की आधारशिला बन सकती है।

5. न्यायिक व्याख्याओं का जनसंचार माध्यमों द्वारा प्रचारप्रसार-

भारत में बड़ी संख्या में महिलाएँ न्यायिक निर्णयों और संवैधानिक प्रावधानों से पूरी तरह अनभिज्ञ रहती हैं। यदि उन्हें यह ज्ञात ही नहीं कि उनके पक्ष में क्या-क्या विधिक सुरक्षा उपलब्ध हैं, तो न्याय की प्राप्ति मात्र संभावना बनकर रह जाती है। इसके लिए **सरकारी एवं निजी जनसंचार माध्यमों**, **रेडियो, टेलीविज़न, सोशल मीडिया**, और **ग्राम पंचायत स्तर पर जागरूकता अभियान** चलाकर महिलाओं को शिक्षित एवं सशक्त बनाया जाना चाहिए। *Supreme Court judgments* को लोकप्रिय शैली में अनुवादित कर सार्वजनिक डोमेन में प्रसारित किया जाना भी न्यायिक व्याख्याओं के लोकतंत्रीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण पहल होगी।

7. निष्कर्ष

भारतीय संविधान ने जिस समतामूलक और न्यायसंगत समाज की परिकल्पना की है, उसमें महिलाओं को पूर्ण गरिमा, समान अवसर और आत्मनिर्णय के अधिकार सुनिश्चित करने की भावना निहित है। इस संकल्पना को व्यवहार में उतारने का सबसे सशक्त उपकरण न्यायपालिका है, जिसने समय-समय पर महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की व्याख्या करते हुए विधिक इतिहास में अनेक प्रेरणास्पद उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। *Vishakha Guidelines*, *Shayara Bano*, *Joseph Shine*,

Githa Hariharan जैसे निर्णयों ने न केवल विधिक सिद्धांतों को नया स्वरूप दिया, बल्कि सामाजिक विमर्श को भी नई दिशा प्रदान की। इन निर्णयों में महिलाओं की गरिमा, स्वतंत्रता, और आत्मनिर्भरता को संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में गहराई से परिभाषित किया गया है।

हालाँकि, इन व्याख्याओं की सामाजिक प्रभावशीलता का मूल्यांकन करते समय यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि अकेली न्यायपालिका सामाजिक परिवर्तन की संपूर्ण वाहक नहीं हो सकती। जब तक कार्यपालिका समर्पित भाव से न्यायिक निर्देशों को लागू नहीं करती, विधायिका प्रगतिशील कानूनों का निर्माण नहीं करती, और नागरिक समाज उनमें चेतना और जागरूकता का संचार नहीं करता—तब तक न्यायिक निर्णय केवल कागजों पर अंकित आदेश भर बनकर रह जाते हैं। आज भी भारत के अनेक क्षेत्रों में महिलाएँ अपने संवैधानिक अधिकारों के प्रति अनभिज्ञ हैं, और जिन्हें ज्ञान है, वे सामाजिक, आर्थिक, या संस्थागत बाधाओं के कारण उनका उपयोग नहीं कर पातीं।

इसके अतिरिक्त, न्यायपालिका को भी आत्मावलोकन की आवश्यकता है। व्याख्या की शक्ति के साथ उत्तरदायित्व भी जुड़ा होता है। एक सक्रिय, संवेदनशील और जनकेंद्रित न्यायपालिका ही उन सामाजिक विषमताओं को संबोधित कर सकती है जो सदियों से महिलाओं को हाशिये पर रखती आई हैं। न्यायिक भाषा की सुलभता, न्याय की त्वरित उपलब्धता, और महिलाओं के अनुभवों की समझ—ये सभी न्यायपालिका को केवल विधिक संस्था नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय की प्रहरी बनाते हैं।

इसलिए, यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत की न्यायिक व्यवस्था ने महिलाओं के अधिकारों के सन्दर्भ में प्रगतिशील व्याख्याएँ अवश्य दी हैं, परंतु इन व्याख्याओं को सामाजिक यथार्थ में रूपांतरित करने के लिए एक समन्वित, बहुस्तरीय और दीर्घकालिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जब तक न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका और समाज मिलकर इस दिशा में सक्रिय नहीं होंगे, तब तक संवैधानिक आदर्श, न्यायिक व्याख्याओं में तो दिखेंगे, किंतु सामाजिक जीवन में उनका प्रतिबिंब दुर्लभ बना रहेगा।

अंततः, यदि भारत को एक समतामूलक, संवेदनशील और न्यायपूर्ण राष्ट्र बनाना है तो महिला अधिकारों की सुरक्षा के प्रश्न को केवल विधिक औपचारिकता के रूप में नहीं, बल्कि *सामाजिक प्रतिबद्धता* के रूप में स्वीकार करना होगा। यही वह बिंदु है जहाँ न्यायिक व्याख्या केवल विधिक प्रक्रिया नहीं रह जाती, बल्कि *सामाजिक परिवर्तन की नींव* बन जाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- वर्मा, एस. के. *भारतीय संविधान और मानवाधिकार*. दिल्ली: सस्ता साहित्य मंडल, 2018।

- मिश्रा, रमेश चंद्र. *नारी और संविधान*. इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ एजेंसी, 2020।
- द्विवेदी, रामशरण. *भारतीय न्यायपालिका और महिला सशक्तिकरण*. नई दिल्ली: नॉर्थ पब्लिशिंग हाउस, 2017।
- अग्रवाल, मेघा. *महिलाओं के मानवाधिकार और विधिक संरक्षण*. जयपुर: यथार्थ प्रकाशन, 2021।
- सिंह, सुरेश कुमार. *महिला कानून और न्याय व्यवस्था*. वाराणसी: भारतीय विधि प्रकाशन, 2019।
- भारत सरकार. *कार्यस्थल पर महिलाओं का लैंगिक उत्पीड़न (रोकथाम, प्रतिषेध और निवारण) अधिनियम, 2013*. विधि एवं न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, 2013।
- भारतीय विधि आयोग. *महिलाओं के विरुद्ध अपराधों पर रिपोर्ट* (रिपोर्ट संख्या 135)। नई दिल्ली: विधि आयोग, 2018।
- नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी, दिल्ली. *महिला अधिकार और संवैधानिक संरक्षण* पर संगोष्ठी दस्तावेज़, 2020।